क्या है बदलते देहात की 'तीसरी चीज़'?

मोहिंदर सिंह

इक्कीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों में उत्तरी भारत के देहात में सामाजिकता के स्वरूप का प्रश्न इस किताब की मूल विषय-वस्तु है। साथ ही इसमें ग्रामीण सामाजिकता के बदलते हुए नये स्वरूप को रेखांकित भी किया गया है। किताब के अध्यायों में नयी ग्रामीण सामाजिकता के निर्धारक कारकों का विस्तार से विश्लेषण है। महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सामाजिकता के विषय पर, विशेष तौर पर ग्रामीण सामाजिकता के विषय पर, समाजशास्त्र में पर्याप्त शोध नहीं हुआ है। इस दृष्टि से सतेंद्र कुमार की यह रचना समाजशास्त्र के ग्राम-शोध में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। शुरू से अंत तक किताब का विश्लेषण दो समानांतर पटरियों पर चलता है। एक तरफ़ जहाँ लेखक समय-समय पर समाजशास्त्र और इतिहास की प्रासंगिक सैद्धांतिक बहसों से पाठक को रूबरू कराते हैं, वहीं दूसरी तरफ़ अपने तर्कों को उन ठोस तथ्यों के माध्यम से गढ़ते हैं जिनका आधार लेखक का वह फ़ील्ड-वर्क है जो उन्होंने 2003 और 2015 के दौरान पश्चिमी उत्तर प्रदेश के ख़ानपुर और उसके आस-पास के गाँवों में किया था।
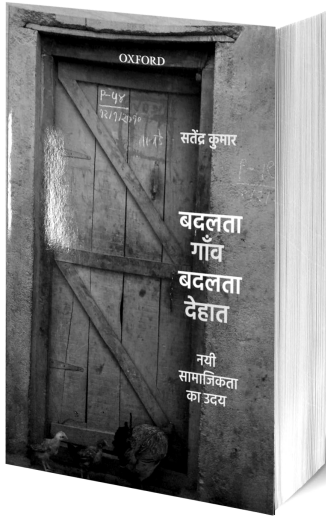
बदलता गाँव बदलता देहात : नयी सामाजिकता का उदय *(2019)*
सतेंद्र कुमार
ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली
पृष्ठ : 184, मूल्य : 261 रु. (पेपरबैक)

लेखक का मुख्य तर्क है कि पिछले तीन दशकों में उत्तर भारतीय ग्रामीण समाज में हुए ऐतिहासिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप इस समाज में एक नयी सामाजिकता का जन्म हुआ है। इस नयी सामाजिकता की व्याख्या करने के उद्देश्य से लेखक इन दशकों में हुए ग्रामीण समाज के व्यापक बदलावों का विस्तार से विश्लेषण किया है। इनमें से प्रमुख हैं : कृषि व्यवस्था में बदलाव, लोकतांत्रिक राजनीति का व्यापक फैलाव, नये प्रकार की धार्मिकता का उदय और मीडिया तकनीकी में हुई अभूतपूर्व तरक़्क़ी के परिणामस्वरूप नये सोशल मीडिया का व्यापक उपयोग। किताब की शोध-पद्धति से संबंधित विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन सभी कारकों में किसी को विशेष प्राथमिकता नहीं दी गयी है, बल्कि शोध की अंतर्निहित मान्यता यह है कि इन सभी क्षेत्रों में हुए परिवर्तन परस्पर संबंधित हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। दूसरी तरफ़ गाँव की दुनिया में हुए इन ऐतिहासिक बदलावों को वैश्विक स्तर पर हो रहे ऐतिहासिक बदलावों का हिस्सा भी बताया गया है। चूँकि विषय उभरती हुई नयी सामाजिकता है, और समाज में नयेपन के वाहक अकसर युवा हुआ करते हैं, इसलिए इस महत्त्व को मद्देनज़र रखते हुए किताब में युवाओं पर एक पूरा अध्याय है। किताब के आख़िरी अध्याय में नयी सामाजिकता से संबंधित शोध के निष्कर्षों की विस्तृत चर्चा है।

समाज-विज्ञान के अध्ययनों में गाँव के सामाजिक जीवन को अकसर कृषि से जोड़ कर देखा गया है। कृषि पर निर्भरता को गाँव और ग्रामीण की परिभाषा का अनिवार्य अंग माना गया है। ग्रामीण समाज पर हुए हाल के समाजशास्त्रीय शोधों के साथ यह किताब भी इस बात पर एकमत है कि पिछले कुछ दशकों में अधिकतर ग्रामीण परिवारों की कृषि पर निर्भरता बड़े पैमाने पर कम हुई है। 2015 के आँकड़ों के अनुसार ख़ानपुर में ही सिर्फ़ आठ फ़ीसदी परिवार पूरी तरह खेती पर निर्भर थे और ये परिवार भी किसी न किसी मजबूरी के रहते किसी ग़ैर-कृषि व्यवसाय में काम नहीं ढूँढ़ने में विफल थे। कृषि पर इस घटती निर्भरता का सबसे बड़ा, जाना-माना और वस्तुनिष्ठ कारण तो कृषि-योग्य ज़मीन का पीढ़ी-दर-पीढ़ी बँटवारा है, जिसकी वजह से बड़े और छोटे किसानों ने अपनी पारिवारिक सम्पत्ति का ग़ैर-खेतिहर व्यवसायों में विविधीकरण किया है। परिणामस्वरूप ग्रामीण अर्थव्यवस्था का पूरी तरह से पुनर्गठन हो गया है। लेकिन इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है किसानों का कृषि से मोहभंग होना। यह दावा भी लेखक अन्य समकालीन गाँव संबंधी समाजशास्त्रीय अध्ययनों के साथ साझा करते हैं। लेकिन इसके साथ ही ग्रामीण संस्कृति और महत्त्वाकांक्षाओं पर नये सोशल मीडिया, मोबाइल फ़ोन, और मोटर बाइक के प्रभाव पर लिखा गया अध्याय लेखक का इस क्षेत्र में मौलिक और महत्त्वपूर्ण योगदान है।

'सोशल मीडिया और मोटरबाइक' अध्याय में समकालीन ग्रामीण संस्कृति पर इनके प्रभावों का व्यापक विश्लेषण है। एक तरफ़ तो बाइक और मोबाइल फ़ोन से गाँव के आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अभूतपूर्व गति आयी है, वहीं दूसरी तरफ़ इन तकनीकी हस्तक्षेपों की बदौलत गाँव, और विशेष तौर पर परिवार, के सामाजिक संबंधों में आमूलचूल परिवर्तन होते दिखाई दे रहे हैं। इस संदर्भ में इस शोध की एक अहम स्थापना निजता (प्राइवेसी) की अवधारणा के बारे में है। कुछ व्यक्तिगत

आधुनिक युग के संचार और मनोरंजन के विभिन्न साधनों— जैसे अख़बार, सिनेमा, साहित्य और टेलिविज़न— ने गाँव के मूल्यों व संस्कारों के क्षरण और विघटन में अपना योगदान दिया है। इसके साथ ही इन साधनों ने गाँव में प्रचलित पुराने मनोरंजन के साधनों— जिनके माध्यम से ग्रामीण मूल्य-निर्माण और प्रचार होता था— को विस्थापित भी किया। इस संदर्भ में मोबाइल-युग और पूर्व-मोबाइल युग के संचार और मनोरंजन के साधनों का तुलनात्मक अध्ययन तर्क को और पैना कर सकता था।

मामलों के विस्तृत अध्ययन के द्वारा लेखक ने दिखाया है कि कैसे मोबाइल और मोटरबाइक के निरंतर बढ़ते चलन से परिवार के अंदर व रिश्तेदारियों के बीच परस्पर मेल-जोल का प्रारूप बदल रहा है। विशेष तौर पर मोबाइल फ़ोन ने ग्रामीण परिवेश में निजता के दायरे को अधिक विस्तृत किया है। आवश्यक है कि इस संदर्भ में निजता की तुलना मोबाइल युग के पहले की उस ग्रामीण मान्यता से की जानी चाहिए जिसके तहत व्यक्तिगत निजता का दायरा काफ़ी संकुचित होता है और बहुत अधिक निजता के दावों को नैतिक वैधता नहीं मिलती।

चूँकि मोबाइल अब व्यक्ति के शरीर के अंग जैसा हो गया है, इसलिए उसमें और उसमें समाहित तमाम जानकारियों में हस्तक्षेप अब निजता के दायरे में दख़लअंदाज़ी माना जाने लगा है। यहाँ इस बात को नोट करना ज़रूरी है कि निजता की यह अवधारणा पब्लिक और प्राइवेट के विरोध को उतना प्रभावित नहीं करती, जितना कि परिवार की निजता के दायरे में व्यक्तिगत निजता के विस्तार को रेखांकित करती है। मोबाइल की जानकारी का एक हिस्सा समकालीन सार्वजनिक जीवन का हिस्सा होता है। कहने की ज़रूरत नहीं कि निजता के बढ़ते दायरे के परिणामस्वरूप ग्रामीण सामाजिकता में व्यक्तिवाद में पहले की तुलना में अपेक्षाकृत बढ़ोतरी हुई है। इसके साथ ही लेखक ने इस बात को भी रेखांकित किया है कि निजता के बढ़ते व्यक्तिगत दायरे का सीधा संबंध एक ओर बदलती ग्रामीण अर्थव्यवस्था से है, जिसकी बदौलत ग्रामीण जीवन में अभूतपूर्व गतिशीलता आयी है; और दूसरी तरफ़ परिवार या गाँव से बाहर प्रवास की बढ़ती सम्भावनाओं से है।

इस किताब में मोबाइल युग से प्रभावित ग्रामीण सामाजिकता के एक और अहम पहलू को रेखांकित किया गया है : ग्रामीण नैतिकता। अपने फ़ील्डवर्क में सामने आये कई केसों का हवाला देते हुए लेखक मोबाइल फ़ोन की बढ़ती उपयोगिता का लोगों की, विशेष तौर पर युवाओं की, नैतिकता पर प्रभाव का विस्तार से उल्लेख करते हैं। मुख्य निष्कर्ष यह है कि नैतिकता के पुराने मापदण्ड भुलाए जा रहे हैं। युवाओं में अच्छे-बुरे की पहचान की शक्ति कम होती जा रही है। लेखक ने यह भी लिखा है कि 'अगर इंटरनेट तथा सोशल मीडिया ने इन्हें दुनिया-जहाँ से जोड़ा है तो दूसरी तरफ़ उन्हें गाँव-समाज के मूल्यों-संस्कारों से दूर भी किया है।' (पृ. 99) यह एक महत्त्वपूर्ण परिकल्पना है, लेकिन यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि नैतिक-मूल्यों का कथित क्षरण मूल्यों के क्षरण की कहानी में नवीनतम कड़ी है या इस मोबाइल युग में कुछ ऐसा है जो रैडिकल तौर पर नया है। कहने की ज़रूरत नहीं है कि आधुनिक युग के संचार और मनोरंजन के विभिन्न साधनों— जैसे अख़बार, सिनेमा, साहित्य और टेलिविज़न— ने गाँव के मूल्यों व संस्कारों के क्षरण और विघटन में अपना योगदान दिया है। इसके साथ ही इन साधनों ने गाँव में प्रचलित पुराने मनोरंजन के साधनों— जिनके माध्यम से ग्रामीण मूल्य-निर्माण और प्रचार होता था— को विस्थापित भी किया। इस संदर्भ में मोबाइल-युग और पूर्व-मोबाइल युग के संचार और मनोरंजन के साधनों का तुलनात्मक अध्ययन

तर्क को और पैना कर सकता था। मोबाइल की तुलना में उपरोक्त अन्य साधन विस्थापित मूल्यों का विकल्प भी प्रस्तुत करते थे और नयी पीढ़ी के व्यक्तित्व निर्माण में बड़ी भूमिका निभाते थे, जबकि मोबाइल युग का मूल्य-क्षरण एक रिक्तता पैदा करता प्रतीत होता है। लेखक ने इसे समकालीन ग्रामीण समाज की नैतिकता के संकट के रूप में देखा है।

'लोकतंत्र की कीमियागिरी' अध्याय समकालीन ग्रामीण राजनीतिक संस्कृति से परिचय कराता है। लोकतांत्रिक राजनीति के ग्रामीण समाज पर दूरगामी प्रभाव पड़े हैं। इनमें से कुछ सकारात्मक और प्रगतिशील हैं जिनकी बदौलत ग्रामीण समाज के निम्न वर्गों को सामाजिक न्याय मिला है और कुछ प्रभाव प्रतिक्रियावादी भी हैं। अध्याय के अधिकतर निष्कर्ष लेखक द्वारा इस अवधि में हुए चुनावों के दौरान किये गये फ़ील्ड वर्क पर आधारित हैं। पंचायत के चुनावों पर विशेष तौर पर ध्यान केंद्रित किया गया है। स्थानीय चुनावों में प्रचलित ख़ान-पान और सेवा-पानी की संस्कृति, चुनावों में धन, बल, व हिंसा की बढ़ती भूमिका तथा गाँव में जातिगत गठजोड़ की राजनीति का विस्तार से चित्रण किया गया है। इसके साथ ही ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को विशेष रूप से रेखांकित किया है। समकालीन उत्तर-भारतीय ग्रामीण सामाजिक-राजनीति से संबंधित समाजशास्त्रियों के हाल के अध्ययनों से सहमति जताते हुए लेखक भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा है कि वर्तमान ऐतिहासिक परिवर्तन की दिशा जाति-व्यवस्था से जाति-अस्मिता की ओर है। लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को लेकर लेखक ने मूल्यांकन का संतुलन बनाने की कोशिश की है। जहाँ एक तरफ़ संख्या बल में अधिक और आर्थिक रूप से सम्पन्न दबंग जाति-समूहों को प्रतिनिधित्व और सत्ता में अधिक भागीदारी मिली है, वहीं आर्थिक रूप से कमज़ोर और छितरे हुए जाति या धार्मिक समूह, तथा पिछड़ी और सर्वाधिक पिछड़ी जातियाँ सत्ता की भागीदारी के खेल में पिछड़ गयी हैं। स्थानीय दबंग जातियों— जैसे जाट, यादव, गुज्जर आदि का वर्चस्व पहले की अपेक्षा काफ़ी बढ़ा है, लेकिन उनके आंतरिक विघटन के साथ उनमें वंशवाद को भी बढ़ावा मिला है। लोकतांत्रिक राजनीति के प्रसार का एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा है कि गाँव के सत्ता-संबंधों की निर्णायक एकमात्र ज़मीन नहीं रही, बल्कि 'किसानों तथा दबंग जातियों पर निर्भरता कम होने से मज़दूर-सेवक जातियों को ग्रामीण सत्ता में कुछ जगह मिली है। इसी कारण रोज़मर्रा के जातिगत उत्पीड़न से भी राहत मिली है।'

संख्या बल में अधिक और आर्थिक रूप से सम्पन्न दबंग जाति-समूहों को प्रतिनिधित्व और सत्ता में अधिक भागीदारी मिली है, वहीं आर्थिक रूप से कमज़ोर और छितरे हुए जाति या धार्मिक समूह, तथा पिछड़ी और सर्वाधिक पिछड़ी जातियाँ सत्ता की भागीदारी के खेल में पिछड़ गयी हैं। ... लोकतांत्रिक राजनीति के प्रसार का एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा है कि गाँव के सत्ता-संबंधों की निर्णायक एकमात्र ज़मीन नहीं रही, बल्कि किसानों तथा दबंग जातियों पर निर्भरता कम होने से मज़दूर-सेवक जातियों को ग्रामीण सत्ता में कुछ जगह मिली है।

लोकतांत्रिक राजनीति के प्रसार का अन्य महत्त्वपूर्ण प्रभाव है स्थानीय राजनीति का राष्ट्रीय राजनीति से सीधे तौर पर जुड़ जाना। इस संदर्भ में इस किताब का मुख्य निष्कर्ष है कि जिस प्रकार आर्थिक कारणों से और संचार माध्यमों में उन्नति के कारण गाँव का परिवेश अपनी पुरानी स्वायत्तता काफ़ी हद तक खो चुका है, राजनीति के क्षेत्र में भी अब स्थानीय मुद्दों पर राष्ट्रीय राजनीतिक विमर्श

का प्रभाव हावी हो रहा है जिसके परिणामस्वरूप स्थानीय राजनीति की स्वायत्तता कम हो रही है। इसमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है उभरते हिंदू राष्ट्रवाद का गाँव के राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर प्रभाव। उभरते हिंदू राष्ट्रवाद के दबाव में गाँव की अपनी प्रचलित न्याय और भाईचारे की अवधारणाएँ और परम्पराएँ टूटती दिखाई दे रही हैं। अब गाँव की राजनीति राष्ट्रीय— और कभी कभी अंतर्राष्ट्रीय— स्तर पर घटित होने वाली घटनाओं को भी प्रतिबिम्बित करती है। लेखक का यह निष्कर्ष अप्रत्यक्ष रूप से हिंदू राष्ट्रवाद की राजनीति पर भी प्रकाश डालता है, क्योंकि इस निष्कर्ष का एक दिलचस्प पहलू यह भी है कि हिंदू राष्ट्रवाद की राजनीति का सीधा संबंध टूटती परम्पराओं से है, जिन्हें हिंदू राष्ट्रवाद अपनी कृत्रिम 'राष्ट्रीय' परम्परा से विस्थापित करने की कोशिश करता है।

उत्तर-भारत के देहात में पिछले कुछ दशकों में धार्मिकता के भी कई नये रूप उभर कर आये हैं। इस किताब में तीन मुख्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया गया है। इनमें से कुछ प्रवृत्तियाँ तो सीधे-सीधे शहरी निम्न मध्यमवर्गीय धार्मिकता की नक़ल का परिणाम हैं— जैसे माता का जागरण और गणपति उत्सव। इनमें शहरों से जागरण पार्टियों व डीजे को बुलाने का चलन नया है जिसने हाल में काफ़ी ज़ोर पकड़ा है। दूसरी प्रवृत्ति है गाँव में पहले से ही मौजूद 'गुरु, डेरा, और सत्संग' आदि की लोकप्रियता में अभूतपूर्व बढ़ोतरी। तीसरी प्रवृत्ति है युवाओं में काँवड़ यात्रा की निरंतर बढ़ती लोकप्रियता। लेखक ने नयी धार्मिकता के आविर्भाव को भी गाँव के परिवेश के उपर्युक्त अन्य पहलुओं में बदलाव के संदर्भ में समझने की कोशिश की है। एक तरफ़ जहाँ नयी धार्मिकता बड़ी और ज़्यादा व्यापक सामूहिकता और पहचान से जुड़ने की चाह की भरपाई करती है, वहीं दूसरी तरफ़ रोज़मर्रा के दुःख और नैतिक रिक्तता के संदर्भ में उपयोगी सिद्ध होती है। इसके साथ ही इस नयी धार्मिकता के वर्तमान स्वरूप का निर्धारण समकालीन व्यक्तिवाद, उपभोगवाद और उभरती हिंदू-राष्ट्रवादी चेतना है जिसके फलस्वरूप धर्म का राजनीतीकरण और मानकीकरण दोनों एक साथ हो रहे हैं।

किताब के आख़िरी अध्याय में नयी सामाजिकता से संबंधित शोध के निष्कर्ष दिये गये हैं। इस शोध का मुख्य निष्कर्ष है कि गाँव की संस्कृति में जजमानी सरीखी प्रथा से निर्मित पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने वाली स्थायी सामाजिकता को नयी सामाजिकता द्वारा विस्थापित किया जा रहा है। नयी सामाजिकता नये बनते सामाजिक संबंधों की सामाजिकता है जो अपेक्षाकृत अस्थायी है जिसका न तो अभी तक स्पष्ट रूप विकसित हुआ है और न ही जिसके मूल्यों का निर्माण अभी पूरी तरह से हुआ है। यह इस किताब की महत्त्वपूर्ण खोज है और समाज-विज्ञान के शोध में एक महत्त्वपूर्ण योगदान। यह

निष्कर्ष लेखक को समाज-विज्ञान की दो बड़ी बहसों में हस्तक्षेप करने का अवसर देता है। पहली बहस है पश्चिम-केंद्रित आधुनिकता और आधुनिकीकरण के सिद्धांतों का महा-आख्यान जिसके अनुसार पश्चिमी आधुनिकता एक सार्वभौम प्रारूप है और विश्व के सभी समाजों की अवश्यम्भावी ऐतिहासिक परिणति भी। इस आख्यान का एक महत्त्वपूर्ण घटक गाँवों के शहरीकरण की ऐतिहासिक अनिवार्यता भी है। इस आख्यान ने भारत के नेहरू और आम्बेडकर जैसे बड़े चिंतकों और राजनेताओं को भी प्रभावित किया जिसके फलस्वरूप भारत के आर्थिक विकास की योजना इसी आख्यान के अनुरूप बनी। समकालीन उत्तर-औपनिवेशिक समाज-विज्ञान के विमर्श की तर्ज़ पर लेखक इस आख्यान की मूल मान्यताओं को अस्वीकार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि उत्तरी भारत के गाँव न तो आधुनिकीकरण के सिद्धांत की अपेक्षित दिशा में शहरीकरण की दिशा की ओर अग्रसर हुए हैं, और न ही पारम्परिक गाँव रह गये हैं। किसी 'तीसरी चीज़' ने जन्म ले लिया है, जिसके लिए अवधारणात्मक शब्दावली भारतीय समाज-विज्ञान में अभी विकसित नहीं हुई है— बल्कि अपेक्षित है। इस संदर्भ में कुछ आश्चर्य इस बात का है कि लेखक ने अपने इस आलोचनात्मक विश्लेषण में सिविल सोसायटी की अवधारणा का कहीं भी ज़िक्र नहीं किया, जबकि सिविल सोसायटी की अवधारणा के केंद्र में आधुनिकता-जनित औद्योगिक समाज की सामाजिकता ही रही है।

दूसरी बहस का संबंध भारतीय समाजशास्त्र में 'गाँव के ख़त्म होने की घोषणा' से है। इस बहस का हवाला समाजशास्त्री दीपंकर गुप्ता के हाल में प्रकाशित एक लेख से है जिसमें उन्होंने यह कुख्यात घोषणा की है। लेखक गुप्ता के इस कथन से असहमति जताते हुए कहता है कि वास्तविकता इसके 'बिल्कुल उलट' है। लेखक का मानना है कि गाँवों का पुनर्गठन हो रहा है और वे कृषि-केंद्रित होने की बजाय निर्वाह या परिधि की अर्थव्यवस्था के केंद्र में आ गये हैं। यहाँ पर सबसे दिलचस्प बात यह है कि मुखर तौर पर गुप्ता की 'घोषणा' से असहमति के बावजूद इस किताब के निष्कर्ष गुप्ता के तर्कों से बहुत अलग नहीं हैं। गाँव की समाजशास्त्रीय परिभाषा के सभी प्रमुख निर्धारक तत्त्वों के हिसाब से वह परिभाषा इस किताब में वर्णित समकालीन देहात की परिस्थिति पर लागू नहीं होती है। ग्रामीण समाज में कृषि पर निर्भरता में भारी कमी और ग़ैर-खेतिहर व्यवसायों पर अधिकाधिक निर्भरता, जजमानी व्यवस्था के साथ-साथ पारम्परिक सामाजिकता का पतन, जाति-व्यवस्था से जाति-अस्मिता की ओर झुकती सामाजिक राजनीति, खेतिहर संस्कृति से अंतरंग रूप से जुड़ी धार्मिकता का ह्रास— ये सभी ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ 'गाँव' की समाज-शास्त्रीय परिभाषा का सार निकाल देती हैं। इस कारण से 'तीसरी चीज़'/ 'तीसरा कुछ' के लिए अवधारणाओं, परिभाषाओं, और शब्दावली की खोज और 'गाँव' की अवधारणा के प्रति लेखक के आग्रह का सामंजस्य नहीं बनता है।

यहाँ पर यह सवाल पूछा जा सकता है कि क्या बोलचाल की भाषा का गाँव और समाजशास्त्रीय परिभाषा का 'गाँव' एक ही है? *प्रतिमान* पत्रिका में चल रही हिंदी में समाज-विज्ञान संबंधी बहसों के संदर्भ में यह सवाल और भी प्रासंगिक हो जाता है क्योंकि समाज-विज्ञान की अमूर्त अवधारणाओं के अनुवाद में सबसे अधिक कठिनाइयों और मतभेदों का सामना करना पड़ता है, जबकि बोलचाल की भाषा में प्रचलित अवधारणात्मक शब्दावली में ऐसी कोई समस्या नहीं होती। इस नज़रिये से भी *बदलता गाँव बदलता देहात* हिंदी में समाज-वैज्ञानिक लेखन का एक अच्छा प्रारूप प्रस्तुत करती है, क्योंकि लेखक ने दोनों तरह की अवधारणात्मक शब्दावलियों को दक्षतापूर्वक सँभाला है और सहज रूप से एक विमर्श से दूसरे विमर्श में प्रवेश करने में सफलता हासिल की है। इस किताब के अध्यायों का बँटवारा भी एक सोची-समझी रणनीति के हिसाब से हुआ लगता है, जिसमें समाज-विज्ञान के सिद्धांतों, बहसों और अवधारणाओं की सबसे अधिक चर्चा किताब के आख़िरी अध्याय के लिए रख छोड़ी गयी है। यह रणनीति काफ़ी हद तक सफल रही है, हालाँकि समाज-शास्त्रियों और समाज-विज्ञान के सिद्धांतकारों के साथ और विस्तृत बहस होती तो किताब के तर्क और ज़्यादा स्पष्ट रूप से सामने आ सकते थे।

नयी ग्रामीण सामाजिकता : शक्ति-केंद्रों की पहचान

नरेश गोस्वामी

शहराती कल्पना में गाँव अभी तक मानसिक पलायन का बिम्ब बना हुआ है। इस कल्पना में गाँव अकसर एक आत्मनिर्भर सामाजिक इकाई होता है, और लोगबाग उसे शहर की आपाधापी व तेज़ रफ़्तार के एक ऐसे अपरिवर्तनीय विलोम के रूप में देखते हैं जहाँ जीवन हमेशा मंथर गति से बहता है। हालाँकि समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र के अध्येता मैकिम मैरियोट ने अपनी किताब *विलेज इंडिया* में यह बात 1955 में ही स्पष्ट कर दी थी कि गाँव को लघु गणराज्य के रूप में कल्पित करना अर्थात् उसे शहर और क़सबे से विच्छिन्न और स्वतंत्र इकाई मानना एक भ्रांति है, परंतु समाजशास्त्रीय अध्ययनों के अन्य निष्कर्षों की तरह यह तथ्य भी दैनंदिन भावबोध का अंग नहीं बन पाया।

भारत में ग्राम्य-अध्ययन का सिलसिला 1950 के आसपास शुरू हुआ था। लेकिन, एम.एन. श्रीनिवास, श्यामाचरण दुबे, ब्रजराज चौहान तथा आंद्रे बेते जैसे लब्धप्रतिष्ठ समाजशास्त्रियों के नेतृत्व में विकसित हुई यह धारा आठवें दशक तक आते-आते क्षीण हो गयी। जैसे-जैसे राज्य का फ़ोकस जन-कल्याण और सार्वजनिक क्षेत्र के बजाय निजी उद्यमों-उद्योगों और वैश्विक पूँजी की ओर मुड़ता गया, वैसे-वैसे भारतीय समाजशास्त्र का चिंतन-प्रतिष्ठान भी गाँव को छोड़ कर शहर की ओर बढ़ गया। एक समय तो ऐसा भी आया कि खेतिहर आय की अनिश्चितता, देश की समग्र अर्थव्यवस्था में ग़ैर-खेतिहर उत्पादों की बढ़ती हिस्सेदारी और गाँवों से शहरों की ओर पलायन के निरंतर बढ़ते ग्राफ़ को देखते हुए दीपंकर गुप्ता जैसे समाजशास्त्री यह तक पूछने लगे कि गाँव का अस्तित्व क़ायम भी रहेगा या नहीं!

नयी पीढ़ी के राजनीतिक समाजशास्त्री सतेंद्र कुमार की यह रचना *बदलता गाँव, बदलता देहात : नयी सामाजिकता का उदय* ग्राम-अध्ययन की इस यशस्वी परम्परा में एक नया अध्याय जोड़ती है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एक गाँव खानपुर का यह एथ्नॉग्राफ़िक आख्यान गाँव की जड़ और विज्ञापित छवि के रेशे उधेड़ते हुए हमारे सामने एक नया समाजशास्त्रीय यथार्थ प्रस्तुत करता है जिसमें गाँव 'न गाँव रह गया है, और न शहर बन सका है'। इस अर्थ में यह किताब गाँव का दो स्तरों पर संधान करती है। एक, उसका स्थानीय यथार्थ और दूसरा उसे गढ़ता, बदलता और विरूपित करता बृहत्तर यथार्थ। यह गाँव समकालीन राजनीति और नव-उदारतावादी अर्थव्यवस्था के बीच खड़ा है। इसका एक सिरा भारतीय समाज की नीची जातियों के राजनीतिक सबलीकरण से, तो दूसरा नव-उदारतावाद की वैश्विक अर्थव्यवस्था से बँधा है।

छह अध्यायों में बँटी इस छोटी लेकिन चुस्त किताब से गुज़रते हुए हम एक ऐसे गाँव में दाख़िल होते हैं जिसमें परिवार के बढ़ते आकार, ज़मीन के घटते रक़बे, रासायनिक खादों, कीटनाशक दवाइयों तथा नये बीजों के बेतहाशा इस्तेमाल के बावजूद खेती की उपज घटती जा रही है। ऐसे में, खेती उनकी जीविका का मुख्य स्रोत नहीं रह गयी है। लिहाज़ा, छोटे और सीमांत किसान ग़ैर-खेतिहर व्यवसायों में पनाह ढूँढ़ रहे हैं। इसका एक नतीजा यह हुआ कि बहुत से किसान अपनी छोटी या

मझौली जोत को ठेके या बँटाई पर उठा कर कोई दूसरा काम करने लगे हैं। सूत्र रूप में कहें तो देहात में एक बहुधंधी ग़ैर-खेतिहर अर्थव्यवस्था पैर पसार चुकी है, लेकिन संकट यह है कि वह मुख्यतः निर्वाह-अर्थव्यवस्था के रूप में काम करती है। यह नव-उदारतावादी अर्थव्यवस्था से प्रतिकृत होता गाँव है जहाँ स्थानीय विधायक और ठेकेदार पंचायत के चुनाव में पैसा लगा कर सड़क, स्कूल और तालाब आदि बनाने के ठेके लेते हैं। वैसे गाँव में अब दबंग जातियों का वर्चस्व एकक्षत्र नहीं रह गया है। उन्हें अब अपनी ताक़त दलित, पिछड़े और अति-पिछड़े समूहों के साथ बाँटनी पड़ती है। चुनाव के समय इन जातियों को अपने खाने के बर्तन और चारपाई जाटवों से साझा करने में कोई आपत्ति नहीं होती, और इस तरह चुनाव-अभियान की अवधि में गाँव का सामाजिक पदानुक्रम समानतापूर्ण हो जाता है।

इस गाँव में लम्बे समय तक डकैत के रूप में कुख्यात रहा राजशरण प्रधान बन जाता है, लेकिन कभी-कभी देखते-देखते दलित नेता भोपाल सिंह भी इस पद तक पहुँच जाता है। गाँव की जनता उम्मीदवार की नैतिकता के बजाय उसके 'काम करवा' सकने की क्षमता को ज़्यादा महत्ता देती है, परंतु इसी के साथ वह इस ख़याल से बेख़बर नहीं रहती कि अगली 'बारी' किसको मिलनी चाहिए! इस किताब से गुज़रते हुए पता चलता है कि अन्य पिछड़े वर्ग की राजनीतिक अवधारणा अपनी सामाजिक कल्पना में कितनी संदिग्ध और बहरूपिया है। मसलन, गूजर जाति की तरह सैनी, गड़रिया और धीवर जैसी जातियाँ भी पिछड़ी मानी जाती हैं, लेकिन उनकी आर्थिक ताक़त और सामाजिक हैसियत के बीच बहुत चौड़ा फाट है। अधिकांशतः भूमिहीन या लगभग न के बराबर ज़मीन रखने वाले गड़रिया और धीवर जैसे जाति-समूहों की हैसियत जाटवों से कमतर है, जबकि जाटवों की गणना दलित वर्ग में की जाती है।

इस किताब से गुज़रते हुए पता चलता है कि अन्य पिछड़े वर्ग की राजनीतिक अवधारणा अपनी सामाजिक कल्पना में कितनी संदिग्ध और बहरूपिया है। मसलन, गूजर जाति की तरह सैनी, गड़रिया और धीवर जैसी जातियाँ भी पिछड़ी मानी जाती हैं, लेकिन उनकी आर्थिक ताक़त और सामाजिक हैसियत के बीच बहुत चौड़ा फाट है। अधिकांशतः भूमिहीन या लगभग न के बराबर ज़मीन रखने वाले गड़रिया और धीवर जैसे जाति-समूहों की हैसियत जाटवों से कमतर है, जबकि जाटवों की गणना दलित वर्ग में की जाती है।

लेखक ने यहाँ मुज़फ़्फ़रनगर दंगों के बाद होने वाले पंचायती चुनाव में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण के उस प्रचार-तंत्र की गहन पड़ताल की है जो फ़क़ीर समुदाय के सदस्य रज़्ज़ाक द्वारा प्रधानी का पर्चा दाख़िल करते ही गाँव में 'मुसलमानी राज' आ जाने का शिगूफ़ा छोड़ देता है, और जिसके चलते गूजर समुदाय अपनी किसान-अस्मिता भूल कर हिंदू बन जाता है तथा परम्परागत तौर पर किसानों के साथ काम करने वाली दस्तकार-सेवक जातियों को मुसलमान घोषित कर देता है।

ग़ौरतलब है कि ग्रामीण क्षेत्रों में हिंदुत्ववादी संगठनों का यह प्रचार-तंत्र पिछले दो दशकों के दौरान बेहद सक्रिय रहा है, परंतु अकादमिक जगत में हिंदुत्व को एक लम्बे समय तक मुख्यतः शहरी परिघटना की तरह देखा जाता रहा। यह धारणा इतनी रूढ़ हो गयी थी कि जब कोई अल्पचर्चित विद्वान देहात में हिंदुत्व के बढ़ते नेटवर्क की बात करता था तो उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया जाता था। इस अर्थ में लेखक की यह किताब भारत में समाज-वैज्ञानिक लेखन की उस व्युत्पन्न-सैद्धांतिकता को

प्रश्नांकित करती है जो ज़मीनी अध्ययन के बजाय वैचारिक प्रस्थापनाओं को ज़्यादा महत्त्व देती रही है। लेखक का यह विवरण इस बेहद ज़रूरी लेकिन अकसर चर्चा से बाहर रह जाने वाले तथ्य की ओर संकेत करता है कि गाँव-देहात में हिंदुत्व राजनीतिक लामबंदी के एक साधन के रूप में उभरा है। वह दबंग जातियों द्वारा अपना वर्चस्व बरक़रार रखने का एक नया पैंतरा बन गया है। इसलिए, यह अकारण नहीं है कि 'जाट, गुर्जर, और राजपूत जैसी जातियाँ रातोंरात राष्ट्रवादी हिंदुत्व का झण्डा उठा कर तथा गो-रक्षा, हिंदू-रक्षा तथा स्त्री-रक्षा जैसे संगठनों का कार्यभार सँभाल कर स्थानीय स्तर पर दलितों और मुसलमानों के सबलीकरण को कमज़ोर करने में जुट गयी हैं'।

किताब के तीसरे अध्याय— 'युवाओं की हसरतें : नौकरी की मरीचिका' में लेखक ने ग्रामीण युवाओं की बेकारी और बेरोजग़ारी की उदाहरणों के ज़रिये गहरी पड़ताल की है। इसमें एमएससी करने के बाद क्रमशः बीज और खाद की दुकान तथा कोचिंग सेंटर खोलकर जीवन-यापन करने वाले दो युवाओं का वृतांत इस निर्मम सच की ओर इशारा करता है कि हमारे राज्य के पास काग़ज़ी खानापूर्तियों और फ़रेबी जुमलों के अलावा युवाओं के लिए कोई ठोस योजना या कार्यक्रम नहीं है। मीडिया-घरानों द्वारा समय-समय पर प्रचारित की जाने वाली 'यंग अचीवर्स' और युवा उद्यमी की छवियों के उलट सच ये है कि ग्रामीण क्षेत्र में अधिकांश युवाओं के सबसे उत्पादक हो सकने वाले साल निराशा और तनाव में गुज़र जाते हैं।

लेखक ने इस पहलू पर अलग से ज़ोर दिया है कि ग्रामीण युवाओं की व्यापक बेरोजग़ारी को इस संदर्भ में रख कर देखा जाना चाहिए जिसमें स्थायी रोज़गार के तौर पर खेती की तबाही के बाद किसान और मज़दूर यह मानने लगे हैं कि अब शिक्षा ही रोज़गार का साधन हो सकती है।

लेकिन गाँव में शैक्षिक ढाँचे की स्थिति यह है कि आठवें दशक के बाद यहाँ कोई सरकारी स्कूल नहीं खुला, जबकि पिछले पंद्रह वर्षों में यहाँ तीन प्राइवेट स्कूल खुल चुके हैं। गाँव के सम्पन्न और दबंग परिवार अपने बच्चों को इन्हीं स्कूलों में भेजते हैं। लेखक के मुताबिक़ प्राइवेट स्कूलों का यह जाल पश्चिमी उत्तर प्रदेश के समूचे देहात में फैल चुका है। तीन से चार हज़ार की पगार पर काम करने वाले अध्यापकों के सहारे चलने वाले इन स्कूलों में शिक्षा की गुणवत्ता स्कूल के प्रबंधकों या बच्चों के अभिभावकों के लिए कोई मुद्दा नहीं है। लेकिन इन तथाकथित अंग्रेज़ी मीडियम स्कूलों में बच्चों को क्या सिखाया जाता है— इसका पता तब चलता है जब स्कूली शिक्षा पूरी करने के बाद उन्हें दुबारा अंग्रेज़ी सिखाने वाले कोचिंग सेंटरों की

शरण लेनी पड़ती है।

यह किताब बताती है कि पिछले पंद्रह-बीस वर्षों में इंटरनेट, मोबाइल फ़ोन तथा मोटरबाइक ने गाँव का बाहरी और भीतरी हुलिया बदल डाला है। मोबाइल फ़ोन की आमद के बाद खेती तथा ग़ैर-खेतिहर कामकाज में एक नयी तरह की गति आयी है। इससे किसानों, मैकेनिकों, स्वरोज़गार में लगे छोटे उद्यमियों को समय की बचत के साथ अपनी कार्यदक्षता बढ़ाने का भी मौक़ा मिला है। मसलन, सब्ज़ी पैदा करने वाला एक किसान राम सिंह सैनी मण्डी में अपने परिचितों से मोबाइल पर बात करके भाव का पता कर लेता है। इसी तरह, बिजली का काम करने वाले मन्नू पाल ने अपना नाम दीवारों पर लिखवा रखा है। ग्राहकों के पास अब उसका नम्बर रहता है। वाट्सएप आने के बाद अब उसके ग्राहक फ़िटिंग के स्पेस और ख़राब मशीन का फ़ोटो खींचकर भेज देते हैं। गाँव में मोबाइल रिपेयर शॉप एक व्यवसाय के रूप में उभर चुका है।

लेखक के अनुसार राजनीति में तो मोबाइल की भूमिका इतनी बढ़ गयी है कि कई बार तो इसके बिना चुनाव का प्रबंधन ही अकल्पनीय लगने लगता है। कार्यकर्ताओं की मीटिंग से लेकर मतदाताओं को संदेश भेजने, प्रतिद्वंद्वियों की ख़बर रखने, नाराज़ मतदाता से सम्पर्क साधने और अंततः गाँव के पड़ोसी शहरों— मेरठ, दिल्ली, ग़ाज़ियाबाद, नोएडा आदि जगहों पर रहने वाले मतदाताओं से सम्पर्क करने जैसे काम मोबाइल के चलते आसान हो गये हैं। लेकिन, सोशल मीडिया के भयावह पहलू को उजागर करते हुए लेखक ने यह भी दर्ज किया है कि वर्चस्वशाली ताक़तें इसे कितनी आसानी से साम्प्रदायिकता फैलाने का औज़ार बना सकती हैं। 2013 में मुज़फ़्फ़रनगर ज़िले के कवाल गाँव की घटना का उल्लेख करते हुए लेखक बताता है कि रोज़मर्रा की एक आपराधिक घटना को किस तरह राष्ट्रीय मुद्दा बना दिया गया जिसमें सैंकड़ों लोगों की जान गयी, हज़ारों लोग अपने गाँव-घर से विस्थापित हो गये और करोड़ों की सम्पत्ति तबाह कर दी गयी।

मोटरबाइक और मोबाइल के बाद यह गाँव पारिवारिक और सामाजिक जीवन बाहरी दुनिया से ज़्यादा जुड़ गया है। इससे जहाँ नाते-रिश्तेदारी के संबंधों को नयी ऊर्जा मिली है, वहीं मुहल्ले और गाँव की आपसदारी, प्रत्यक्ष संवाद पर बुरा असर पड़ा है। नयी पीढ़ी का ज़्यादा समय दूसरे शहरों में रहने वाले अपने भाई-बहनों, संबंधियों अथवा फ़ेसबुक तथा व्हाट्सएप से जुड़े कामकाजी दोस्तों से बात करने में बीतता है। मसलन, गाँव का एक व्यक्ति शमशु जब काम के लिए दुबई जाता है तो अपनी पत्नी और बच्चों को वहाँ के जीवन, बुर्ज ख़लीफ़ा और अन्य इमारतों की तस्वीरें भेजता है। धीरे-धीरे इसका परिणाम यह होता है कि उसके घर वाले अपने पड़ोसियों के बारे में कम और दुबई के विषय में ज़्यादा जानने लगते हैं। लेखक के अनुसार गाँव में रहने वाले लोगों का जीवन अब एक काल्पनिक दुनिया से ज़्यादा जुड़ गया है। गाँव में रहने के बावजूद उनका गाँव की दुनिया से कम वास्ता रह गया है।

नयी सामाजिकता का मतलब पिछली सामाजिकता से विच्छिन्नता के अर्थ में ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। दरअसल, यह नये आर्थिक-राजनीतिक यथार्थ से प्रतिकृत होती सामाजिकता है जिसमें धीरे-धीरे दबंग जातियों का एकक्षत्र वर्चस्व टूटा है; दलित और पिछड़े समुदाय के लोग प्रधान बनने लगे हैं, लेकिन सबलीकरण की इस प्रक्रिया के समानांतर गाँव वैश्विक बाज़ार का हिस्सा भी बनता चला गया है। गाँव का जीवन, वहाँ की खेती-बाड़ी, राजनीति और धार्मिक कर्मकाण्ड अब गाँव के बजाय बाज़ार की ताक़तों और राज्य के हस्तक्षेप से तय होने लगे हैं।

यह एक दिलचस्प बात है कि इस बदलते हुए गाँव में जहाँ परिवार और जातियों के देवी-देवताओं में कोई ख़ास कमी नहीं आयी, वहीं नये धार्मिक कर्मकाण्ड, त्योहार, तीर्थ और धर्मगुरु जन-जीवन का अंग बन गये हैं। लेखक का मानना है कि यह नयी धार्मिकता जहाँ बहुजन धार्मिकता से मिलकर एक देशज रूप ले लेती हैं, वहीं दूसरी ओर वह धार्मिक कट्टरवाद तथा दक्षिणपंथी राजनीति का भी हिस्सा बन जाती है. इससे अगर एक नयी क़िस्म की सामूहिकता का गठन हो रहा है तो साथ हिंदुत्व और मध्यम वर्ग की धार्मिक चेतना भी जन-जीवन में पैठ करने लगी है। गाँव का जीवन एक बड़ी राष्ट्रीय चेतना का अंग बनता जा रहा है। यह नयी धार्मिकता घर परिवार तक सीमित होने के बजाय सड़कों तथा सार्वजनिक स्थानों पर उतर आयी है। पहले जागरण, चौकी और गणपति उत्सव जैसे आयोजन शहरों तक सीमित थे, लेकिन अब उनकी पैठ ग्रामीण संस्कृति में भी होने लगी है। पिछले दो दशकों के दौरान गाँव-देहात में गुरुओं के डेरों और सत्संग के प्रचलन के साथ काँवड़ की यात्रा सामूहिक आस्था की एक व्यापक परिघटना के रूप में उभरी है।

किताब के आख़िरी अध्याय में लेखक ने पिछले पाँच अध्यायों की सामग्री को सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में रख कर नयी सामाजिकता का सूत्रीकरण किया है। ग़ौरतलब है कि 'नयी सामाजिकता का उदय' इस किताब का उप-शीर्षक भी है। नयी सामाजिकता एक बनती-उभरती अवधारणा है। हालाँकि लेखक ने पिछले अध्यायों का समाकलन करते हुए उन तमाम प्रवृत्तियों का यथोचित विश्लेषण किया है जिन्हें नयी सामाजिकता का संरचनात्मकक आधार माना जा सकता है, परंतु किताब के पॉपुलर मुहावरे को देखते हुए हमारा मानना है कि लेखक को इस अवधारणा का आशय अलग से स्पष्ट करना चाहिए था।

बहरहाल, जैसा कि इस अध्याय से ध्वनित होता है, नयी सामाजिकता का मतलब पिछली सामाजिकता से विच्छिन्नता के अर्थ में ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। दरअसल, यह नये आर्थिक-राजनीतिक यथार्थ से प्रतिकृत होती सामाजिकता है जिसमें धीरे-धीरे दबंग जातियों का एकक्षत्र वर्चस्व टूटा है; दलित और पिछड़े समुदाय के लोग प्रधान बनने लगे हैं, लेकिन सबलीकरण की इस प्रक्रिया के समानांतर गाँव वैश्विक बाज़ार का हिस्सा भी बनता चला गया है। गाँव का जीवन, वहाँ की खेती-बाड़ी, राजनीति और धार्मिक कर्मकाण्ड अब गाँव के बजाय बाज़ार की ताक़तों और राज्य के हस्तक्षेप से तय होने लगे हैं। अब वहाँ के 75 प्रतिशत लोगों का जीवन ग़ैर-खेतिहर व्यवसायों पर निर्भर करता है। गाँव की मज़दूर और दस्तकार जातियों के लोग अब सुबह काम पर निकलते हैं और देर शाम या रात के समय घर लौटते हैं। उनके पास सुबह शाम चौपाल पर बैठकर बात करने का समय नहीं रह गया है। ऐसे में, गाँव अब धीरे-धीरे एक आवासीय स्थल / स्थान बनता जा रहा है।

पिछले दो-तीन दशकों में किसान और मज़दूर के बजाय किसान और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों, खाद-बीज भण्डार के मालिकों तथा दलालों का पारस्परिक संबंध ज़्यादा मजबूत हुआ है। चुनावी राजनीति तथा पंचायती राज व्यवस्था से गाँव के सत्ता संबंधों में संरचनात्मक बदलाव आया है। इनसे कमज़ोर और दलित जातियों का सशक्तीकरण हुआ है, परंतु इससे लोगों की लोकतांत्रिक चेतना में कोई गुणात्मक इज़ाफ़ा नहीं हुआ है। आंतरिक लोकतंत्र के अभाव में विभिन्न जातियों और वर्गों में वंशवाद की प्रवृत्ति प्रबल हुई है जिससे लोकतंत्र से मिलने वाले लाभ जाति-समुदाय के कुछ परिवारों तक सीमित होकर रह गये हैं। लेखक का मानना है कि चूँकि गाँव की बाहरी संरचना— उत्पादन, वितरण और सत्ता-संबंध बदल गये हैं इसलिए गाँव का नया रंग-रूप एक नये नाम और परिभाषा की दरकार रखता है।

कुल मिलाकर सतेंद्र कुमार की यह किताब बताती है कि अब गाँव को हम एक बनी-बनाई अवधारणा के रूप में नहीं देख सकते। एक राजनीतिक समाजशास्त्री के तौर पर लेखक के संधान का दायरा अपने चयनित गाँव की नियति तक सीमित नहीं है। दरअसल, यह एक गाँव के सघन अध्ययन के ज़रिये गाँव की बदलती अवधारणा को समझने का उद्यम है। इस मायने में यह किताब हमें ग्राम्य-अध्ययन के पुराने निष्कर्षों और जड़ सूत्रों से आगे ले जाती है।